ORIGINAL RESEARCH PAPER

Sanskrit

रत्नावली नाटिका का मुख्य रस विवेचन

KEY WORDS:

डॉ. शबनम कुमारी संस्कृत विभाग , ति. मां. भा. वि. भागलपुर.

भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय रससिद्धान्त हैं। आचार्य भरतमुनि ने तो रस को काव्य का सर्वस्व ही माना है तथा आगे चलकर रस - संप्रदाय के सभी मान्य आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है । रस भारतीय नाट्यकला का प्राण है - रस प्राणों हि नाट्यविधि: । नाटक का कोई भी अर्थ रस निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता । आचार्य भरत के अनुसार - "नहि रसाद्रीते कश्चिदर्थ: प्रवृत्तते" ।

भरत से पूर्व रस सिद्धान्त का परिचय किसी को नहीं था , ऐसा कहना समुचित नहीं , फिर भी यह बात स्पष्ट है कि रस - सिद्धान्त को व्यवस्थित एव शास्त्रीय रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य भरत को ही है । यद्यपि राजशेखर ने काव्यमीमांसा में आचार्य नंदिकेश्वर का उल्लेख रस के व्याख्याता के रूप में किया है ।

रसाधीकारिकं नंदिकेश्वर किन्तु दुर्भाग्यवश आज नंदिकेश्वर का कोई भी कृति प्राप्त नहीं है , अतः अनुपलब्ध प्रमाणो के आधार पर कुछ भी कहना संभव नही अभिनवगुप्त की मान्यता है कि नाट्यशास्त्र में कई स्थानों पर पूर्वाचार्यों के ऐसे मत मिलते हैं जिनको भरतमुनि ने यथास्थान अपने ग्रन्थों में विनिवेशित किया है । किन्तु दुर्भाग्यवश उन आचार्यों की कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है । अतः उपलब्ध प्रमाण के आधार पर भरतमुनि को ही आद्य आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है । भरतमुनि ने रस सिद्धान्त का विवेचन नाट्यकला के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है कथन से स्पष्ट होता है कि उनका रस निरूपण नाट्य के सन्दर्भ में है । भरत के परवर्ती आचार्यों ने नाट्य रस की शास्त्रीय परम्परा का प्रसार और विवेचन किया । नाट्यशास्त्र की परम्परा का अनुसरण करते हुए धनंजय , रामचन्द्र गुणचन्द्र , सागरनन्दी , शारदातनय और शिंगभूपाल प्रभृति आचार्यों ने स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की और नाट्य - रस का प्रतिपादन किया । इन आचार्यों के काल तक नाट्य - रस से पृथक एक स्वतंत्र रूप में रस सिद्धान्त ने अपना अस्तित्व स्थापित कर लिया था । ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दवर्धन ने भी रस की महत्ता अक्षुण्ण माना है । अभिनवगुप्त ने भी ध्वनि के त्रिविध रूपों को सामान्यतः काव्य की आत्मा माना है , फिर भी रस ध्वनि को ही सिद्धान्त रूप से उन्होंने काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है । ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल विरोधी आचार्य महिमभट्ट ध्वनि का खण्डन करके भी उन्होंने रस को ही काव्यात्मा रूप में स्वीकार किया है । काव्यस्यात्मानि संगनि रसादिरूपे न कस्यचित विमतिः । आनन्दवर्धन के बाद दृश्यकाव्य के अतिरिक्त श्रव्यकाव्यों पर भी रस का एकक्षत्र साम्राज्य स्थापित हो गया किन्तु भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में रस का विवेचन नाट्यकला के परिप्रेक्ष्य में किया है । कीर्थ के अनुसार नाट्यशास्त्र की सबसे मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रस - सिद्धान्त ही है , जिसका प्रेक्षक के मन में उद्रेक कराना ही नाटक का चरम लक्ष्य माना गया है । भारतीय नाट्यशास्त्र में रस विवेचना का विशेष महत्व है । दृश्यकाव्य में रस की स्थिति भरत के भी पहले से चली आ रही है । दृश्यकाव्य के तीन भेदकों में एक ' रस ' भी है । (वस्तु नेताः रसश्तेषां भेदकः) रस की व्यंजना करना सामाजिकों के हृदय में रसोद्रेक उत्पन्न करना दृश्य काव्य का प्रमुख लक्ष्य है । काव्य के पठन श्रवण या दर्शन से जिस आनन्द का अनुभव हमें होता है वही आनन्द ' रस ' कहलाता है । इस रस की निष्पत्ति , विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से होती है । भरतमुनि का यही मत है । ' भाव सहृदय सामाजिकों के हृदय में रहता है । आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार ' भाव ' मानव मानस के अर्धचेतन या अवचेतन भाग में छिपा रहता है । भाव की उदभूति हमारे व्यवहारिक तथा लौकिक जीवन से ही होती है । भारतीय पण्डित के मत से वह पूर्वजन्म का लौकिक जीवन से भी हो सकता है । लोकिक तथा व्यवहारिक जीवन में जब हम किसी के प्रति क्रोध , उत्साह , करूणा प्रदर्शित करते हैं , किसी शेर या सॉप को देखकर डरते हैं , तो उनका प्रभाव हमारे चेतना मन पर पड़ता हुआ धीरे - धीरे हमारे अचेतन मन के अन्तराल में अपना अस्तित्व बना लेता है । और जब हम काव्य - नाटकादि में तत्तत् भाव का चित्रण पढ़ते या देखते हैं , तो यह भाव उभर कर चेतन मन को लहरों में उतरता नजर आता है । यही भाव काव्य में वर्णित विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है । वह चेतन और अचेतन मन को जैसे कुछ समय के लिए एक करके उनके बीच की यवनिका को जैसे हटाकर हमें हृदय की उस चरम सोपान सीमा तक पहुँचा देता है जहाँ हम मनोराज्य में विचरण करते हैं । जहाँ आन्नद ही आनन्द है । इसे ही भारतीय रसशास्त्री रस ' की संज्ञा दी है जो लौकिक होते हुए भी अलौकिक है , दिव्य है तथा इसे ब्रहमस्वादसहोदर माना गया है । भाव ही रस ' का बीज है । रस का मूल रूप है । रस के अणु का न्यूक्लिस ' यही भाव है । भाव को क्षणिक संचारिभावों से अलग करने के लिए स्थायी भाव भी कहा जाता है । साहित्यशास्त्रियों ने आठ या नौ तरह के भाव माने हैं । धनंजय नाटक में आठ ही भाव मानते हैं । अभिनवगुप्त व नवीन रस शास्त्रियों को नौ भाव अभीष्ट है । ये भाव हैं रति , उत्साह , जुगुप्सा , क्रोध हास , विस्मय , भय तथा , शोक । इनके अतिरिक्त नवाँ भाव है ' शम । इन्हीं भावों की परिणति क्रमशः आठ या नौ रसों में होती है : - शृंगार , वीर , वीभत्स , रौद्र , हास्य , अदभुत , भयानक , करूण तथा नवे शम का रसरूप शांत । इन आठ रसों में - शान्त की गणना न करने पर चार प्रमुख हैं , चार गौण । प्रथम चार - संृगार वीर , वीभत्स और रौद्र प्रमुख है तथा इनमें से एक से एक अद्भूत माने जाते हैं । यथा हास्य को श्रृंगार से , अद्भूत को वीर से , भयानक को विभत्स से तथा करूण को रौद्र से उद्भुत माना जाता है । चार रस - युग्मों की स्थिति का सम्बन्ध मन की चार स्थितियों से लगाया जाता है । रसास्वाद के समय सामाजिक का मानस या तो विकसित होता है , या फैलाता है या क्षुब्ध होता है या उसमें विक्षेप की क्रिया होती है । इस प्रकार इन चार स्थितियों में से प्रत्येक का अनुभव एक एक रस - युग्म में क्रमशः पाया जाता है । यथा - श्रृङ्गार - हास्य में मानव विकसित होता है , उसमें मन का विकास पाया जाता है । इसी तरह वीर अदभूत में मन के विस्तार वीभत्स - भयानक क्षोभ तथा रौद्र करूण में विक्षेप की स्थिति रहती है । आचार्य विश्वनाथ ने वत्सल भाव की तथा वात्सल्य रस की भी कल्पना की है । रूपगोस्वामी ने ' उज्जवल नीलमणि में माधुर्य रस (भक्तिरस) की कल्पना की । ' श्रृङ्गार प्रकाश में भोज ने केवल एक ही रस माना है- ' श्रृङ्गार ' वाकी सारे रस भोज के मत से श्रृंगार के ही विवर्त हैं । भवभूति सभी रसों को करूण का विवर्त मानते है

नाटकीय वृत्तियों को एक ओर नायक का व्यापार बताया गया है , दूसरी ओर रसों से भी उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है । वृत्तियाँ चार हैं कैशिकी , सात्वती , आरभट्टी तथा भारती । दशरूपककार धनंजय ने भारती को शाब्दी वृत्ति माना है । उसका प्रयोग विशेषतः आमुख या प्रस्तावना में पाया जाता है । कैशिकी वृत्ति का प्रयोग - श्रृङ्गार रस के अनुकूल होता है । इसके चार अंग होते हैं । नर्म , नर्म स्फिञ्ज नर्मविस्फोट तथा नर्मन्गर्म । सात्त्वती वृत्ति वीर अद्भूत तथा भयानक के उपर्युक्त होती है । इसका प्रयोग करूण तथा श्रृङ्गार धारण कर राग से फलित होती है , और अनुराग से इस रति का भोग होत काम का उद्रेक और ऋ धातु के आर का अर्थ है गति या प्राप्ति अर्थात है । " (भा प्र 0 पृ0-78) इस रति का परिपोष या भोग श्रृङ्गार कहा जाता है (श्रृग ऋच्छति इति श्रृङ्गार) श्रृङग शब्द का अर्थ है , मन को मथ देने वाला कामोद्रेक की प्राप्ति श्रृङ्गार है । परस्पर अनुरक्त युवक युवती का ही यह रस है । परस्पर अनुरक्त न होने पर शृंगार रसाभास हो जाता है । " उन देश कालादि विभावों में से देश विभाव (उस रमणीय प्राकृतिक दृश्य नदी का तट झरणा , सुरम्यघाटी , उद्यान को कहते हैं जिसका वर्णन रति भाव उबुद्ध करने के लिए किया जाता है । जगार - श्रृङ्गारस तीन प्राकर का होता है- अयोग , विप्रयोग और भरतमुनि ने श्रृङ्गार के दो भेद सम्भोग और विप्रलम्भ किये हैं । बाद के सभी आचार्यों आनन्दवर्द्धन , मम्मट , नाट्यदर्पणकार , विश्वनाथ , पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने इसी मार्ग का अनुसरण किया है । अन्तर केवल इतना ही है सम्भोग कि कुछ लोगों ने सम्भोग के स्थान पर संयोग और विप्रलम्भ के स्थान पर वियोग शब्द का प्रयोग किया है । दशरूपक के मत का समर्थन भाव प्रकाशन ने किया है । धनिक का कहना है कि विप्रलम्भ शब्द का मुख्य वञ्चना या ठगना है विप्रलम्म विडम्बनं वञ्चनं प्रसिद्धम् 15 नायिका विप्रलब्धा कही जाती है । अयोग और विप्रयोग शब्द का वञ्चना अर्थ नहीं होता , वरन् विशेष अर्थ होता है । यदि इन अर्थो को बताने के लिए लाघव के मोह में विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जाय तो पहला दोष यह होगा कि विप्रलम्भ शब्द का अयोग और विप्रयोग ' रूप अर्थ मुख्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ होगा । ' विप्रलम्भ ' तो किसी कारण वश अनुरक्त नायक ओर नायिकाओं का न मिल पाना या चित्तविश्लेष है । किन्तु अयोग और विप्रयोग में मुख्य अन्तर नायक और नायिकाओं की अप्राप्ति और प्राप्ति का है । अयोग में कभी न मिले हुए परस्पर अनुरक्त नायक - नायिकाओं का विप्रकर्षण रहता है और विप्रयोग में अनुरक्त नायक - नायिकाओं के मिलन के पश्चात किसी कारणवश उन्हें अलग - अलग रहना पड़ता है । इसलिए धनञ्जय और धनिक के विचारों में केवल नवीनता ही नहीं है । वरन् यथार्थ चित्रण की परिपूर्णता है । अयोग श्रृङ्गार में नायक - नायिका का समागम नहीं होता है । एक दूसरे के दर्शन से अथवा गुण - श्रवण से नायक और नायिका के चित्त में प्रकर्ष अनुराग हो जाता है , लेकिन माता - पिता - देवादि की परतन्त्रता के कारण अथवा भाग्य के कारण दोनों का समागम नहीं हो पाता । समागम न हो पाना ही अयोग है । मन से स्वीकार कर लेना स्वीकार नहीं है । ' स्वीकार का अर्थ करने पर स्वीकार का अभाव अस्वीकार अयोग हो जायेगा , जो मान्य नहीं है । काव्य - प्रकाश में इस अयोग को अभिलाषहेतुक और साहित्यदर्पण में पूर्वराग विप्रलम्भ के रूप में अयोग का वर्णन किया गया है । उस अयोग्य की दश अवस्थाएँ होती हैं । उनमें प्रथम अवस्था अभिलाषा तत्पश्चात् क्रमशः चिन्तन , स्मृति , गुण , कथन , उद्वेग , प्रलाप , उन्माद , संज्वर जड़ता और मरण की अवस्थाएँ होती है । उत्तरोत्तर क्रमशः एक के बाद दूसरी अवस्थाएँ अधिक दुखदायिनी हुआ करती है । विप्रयोग : ' विप्रयोगस्तु विश्लेषों रूढविसम्भयोर्द्विधा । मानप्रवासभेदेन मानोऽपि प्रनयेष्य्यो । " अर्थात् प्रगाढ़ अनुराग के परस्पर अत्यंत विश्रम्भ समों विश्रंभ विश्वास भूमि को प्राप्त करने वाले नायक और नायिका का किसी कारण वश पृथक हो जाना ही विप्रयोग श्रृङ्गार है । मान और प्रवास के भेद से यह दो प्रकार का होता है- प्रणयमान और ईर्ष्यामान । समागम को प्राप्त नायक और नायिका का पृथक हो जाना विप्रयोग श्रृंगार है । इस श्रृङ्गार के दो भेद हैं- मान और प्रवास । मान विप्रयोग भी दो प्रकार का होता है प्रणयमान और इर्ष्यामान । परस्पर गाढ़ अनुराग के कारण नायक और नायिका का चित्त अत्यंत विश्वास भूमि को प्राप्त हो जाता है । किसी कारण वश दोनों का पृथक हो जाना विप्रयोग है । " वियोगः विप्रकर्ष स्याद यूनोः सम्भोगः मग्नयोः । " विप्रयोग का अर्थ केवल शरीर से ही पृथक - पृथक रहना नहीं है । वरन् दोनों के अन्तःकरण की वृत्ति में ही वियोग सम्भव है । काव्यप्रकाश में पाँच प्रकार का अभिलाष विरह , ईर्ष्या , प्रवास और शाप - विप्रलम्भ श्रृङ्गार बताया गया हे नाट्यदर्पण में भी पाँच प्रकार का मान , प्रवास शाप इशर्या और विरह , साहित्यदर्पण में चार प्रकार का पूर्वरागः , मान , प्रवास और करूण विप्रलम्भ बताया गया है । अभिलाष और पूर्वराग को अभोग में अन्तभूत किया जा सकता है । धनञ्जय की दृष्टि में करूण रस और प्रवास शृंगार का भेदक तत्त्व आलम्बन का अभाव और भाव है । रति भाव का आलम्बन मर जाय तो शोक भाव के उद्बुद्ध हो जाने के कारण करूण रस की उत्पत्ति हो जाती है । कादम्बरी में पुण्डरीक के मरने के बाद महाश्वेता का विलाप करना उसके शोक भाव की पुष्टि का प्रतिफल है । पाठक को भी करुण रस की ही अनुभूति होती है । आकाश - वाणी श्रवण के बाद रति उद्बुद्ध हो जाती है । इसलिए जबतक मिलन नहीं हो जाता तब तक प्रवासजन्य विप्रयोग रहता है , यह धनिक की मान्यता है । लेकिन यह मत उचित नहीं है । विप्रयोग श्रृंगार के लिए संयोग आवश्यक है । यथोत्तररामचरिते " किमपि किमपि मन्दं मन्मासतियोगादविर लितकपोलं जलातोरक्रमेण । सुपलकपरिरम्भ व्यापृतेकैकददोष्णो - रविदिगतयामा रात्रिरवे व्यंरसीत् । राम सीता से कह रहे हैं कि क्या तुम्हे वह स्थल याद है जहाँ अत्यन्त प्रेम के कारण परस्पर कपोल को सटाये हुए , क्रम के अभाव में कुछ बातें करते हुए तथा अपने - एक - एक बाहु को गाढ़ आलिङ्गन में लगाये हुए हम दोनों की वह रात्रि जिसके प्रहर का ज्ञान नहीं रहा - ही व्यतीत हो गयी । आथवा , प्रिये यह क्या है । अतः “रचनावली” नाटिका श्रृङ्गार रस प्रधान नाटिका है ।

विषय संदर्भ सूची

१. भरत नाट्यशास्त्र - नहि रसादृते कश्चि दयर्थ प्रवृर्त्तते॰
२. नंदिकेश्वर - “रसाधिकारिकं नंदिकेश्वरः।
३. अभिनवगुप्त अभिनव भारती भाग १ पृ०-३२६
४. भरतमुनी - “अश्टौनाटये रसा स्मृता” ।
५. अभिनवगुप्त , ध्वन्यालोक, लोचना टीका पृ ०-१० वस्तुस्तु रसादिध्वनिरेव काव्यस्यात्मा वस्त्वंलंकार ध्वनीतु रसादि ध्वनि प्रतिपर्यवस्येति ।।
६. आचार्य महिम भट्ट - ध्वनि का खण्डन करके भी उन्होंने रस को ही काव्यात्मा रूप में स्वीकार किया है ।
७. महिमभट्ट व्यक्ति विवक 'काव्यास्यात्मानि संगनि रसादिरूप न कस्यचित विभतिः ।
८. डॉ ० ए ० वी ० कीथ , संस्कृत ड्रामा , पृ०-३३६
९. भरतमुनि - " विभावानुभाव व्यभिचारीसंयोगाद् रस निष्पतिः । "
१०. भवभूति - " एको रसः करूण एव " ।
११. दशरूपक - धन्नजय चतुर्थ अध्याय में शृंगार रस के बारे में बताया है " सम्यदेशकालवेष भौगादि सेवनेः "
१२. भा ० प्र ० पृ०-७८ श्रृङ्ग ऋच्छति इति शृंगारः।